दलित मुक्ति आंदोलन

सीमाएँ और संभावनाएँ

डॉ. सुभाष चंद्र

दलित मुक्ति आंदोलन

सीमाएँ और संभावनाएँ

डॉ. सुभाष चंद्र

प्रकाशक: नॉटनल

© डॉ. सुभाष चंद्र

कामरेड पृथ्वीसिंह गोरखपुरिया

और कामरेड प्रभात सिंह को

जिन्होंने अपना पूरा जीवन दलितों,

शोषितों और वंचितों के लिये लगाया

अनुक्रम

भूमिका	4
दलित अवधारणा	15
दलित मुक्ति: प्रेमचन्द और डॉ. आम्बेडकर	31
हिन्दुत्व और दलित	158
वैश्वीकरण में दलित	170
दलित मुक्ति आन्दोलन: सीमाएं व संभावनाएं	181

भूमिका

दलित कोई एकरूप समाज नहीं है और न ही दलित-आन्दोलन की कोई एक ही निश्चित विचारधारा है। उसके कई-कई रूप हैं, जो कुछ तो लोकतांत्रिक शासन-व्यवस्था की मजबूरियों के कारण हैं और कुछ वास्तविक तौर पर दलित-आन्दोलन की परंपरा को आगे बढ़ा रहे हैं और मानवीय गरिमा पाने व शोषण से मुक्ति प्राप्त करने के संघर्ष की सही दिशा में हैं। दलित एक ऐसा विशिष्ट वर्ग है, जो शोषण की अन्य संरचनाओं को झेलते हुए अमानवीय छुआछूत का शिकार भी रहा है और अपनी मुक्ति के लिए संघर्ष करता रहा है। जिसके तेजस्वी प्रखर व जुझारू संघर्ष व चिंतन ने कथित मुख्यधारा के दर्शन व मूल्यों को चुनौती दी है। वर्तमान लोकतांत्रिक प्रणाली में दलितों के आकार व राजनीतिक जागरूकता के कारण दलित-आन्दोलन चर्चा का विषय बना हुआ है।

भारत में दलित चिंतन व आन्दोलन ने अपनी विचारधारा ब्राह्मणवाद के विरोध में निर्मित की है। ब्राह्मणवाद के तमाम मूल्य नैतिकता व विचारधारा मुख्यत: दो स्तम्भों पर टिकी है- पितृसत्ता और वर्ण-व्यवस्था। ब्राह्मणवाद की विचारधारा का आधार या जीवनस्रोत वेद-वेदांग, पौराणिक साहित्य और स्मृति ग्रन्थ हैं। इनमें निहित वर्चस्वी वर्ग के मूल्यों को चुनौती देकर ही दलित-दृष्टि का विकास हुआ है। ब्राह्मणवाद

ने वर्ण-धर्म की खोज करके शूद्रों-दलितों को ज्ञान, सम्पत्ति व शक्ति से दूर ही रखा था और दलितों-शूद्रों ने जीवन-संघर्ष के दौरान जो महत्त्वपूर्ण ज्ञान अर्जित किया, उसे ज्ञान की श्रेणी में ही नहीं रखा। इसे प्राप्त करने के संघर्ष में ही दलित दृष्टि का विकास हुआ है। लोकायत, बौद्ध धर्म, भक्ति-आन्दोलन व आधुनिक काल में समाज सुधार के दौरान ज्योतिबा फुले, आम्बेडकर, नारायण गुरु, नायकर के आन्दोलनों को वर्तमान दलित-आन्दोलन की पृष्ठभूमि, परंपरा व स्रोत के तौर पर रखा जा सकता है।

उच्च वर्ग ने समाज की बहुसंख्यक आबादी का शोषण करने के लिए एक ओर तो धर्म की शक्ति का सहारा लिया और दूसरी ओर शासन की राजसी शक्ति का। मनुवाद विरोध का सीधा-सा अर्थ है कि वर्ण व जाति व्यवस्था को स्वीकृत न करना और जाति की संरचना को तोड़ना। आज दलित-आन्दोलन में इसे तोड़ने की बजाय या तो अपनी जाति पर 'गर्व' करने की या जातिगत आधार पर एकत्रित होने की होड़ है। दलित-आन्दोलन का विकास जाति तोड़ने की प्रक्रिया में विकसित होगा न कि जातिगत स्वाभिमान के प्रदर्शन में।

जाति का स्वाभिमान कहीं दलित महापुरुषों की मूर्तियों का शहरों के चौक पर स्थापित करने में तो कहीं दलित नेता के नाम पर विश्वविद्यालय या पार्क या किसी मार्किट का नाम रखने में प्रदर्शित हो रहा है। इसी मानसिकता के चलते दलित-जातियों के नेतृत्व ने अपने जातिगत आधार पर ऐतिहासिक व पौराणिक महापुरुषों की खोज

कर ली है। उनके नाम पर भव्य आयोजनों में सत्ता के शीर्ष पर पहुंचे लोगों को बुलाकर अपना मतलब निकाल रहे हैं और अपने समाज को जातिगत पहचान देकर पुरानी संरचनाओं में जकड़ रहे हैं। दलित-प्रतीकों के लिए संघर्षों के बोल-बाले में वास्तविक बदलाव के ठोस मुद्दे गायब हो रहे हैं। दुर्भाग्यपूर्ण है कि दलितों में से उभरा मध्यवर्ग दलित-आन्दोलन को पुख्ता करने की बजाय उसे जाति-आन्दोलन में तब्दील कर रहा है।

असल में प्रारम्भ से ही दलित-आन्दोलन के समक्ष सबसे बड़ी चुनौती ब्राह्मणवाद की अमानवीय विचारधारा की शोषित-वंचित वर्गों में स्वीकृति है। वर्ण-धर्म की नैतिकता, जाति-आधारित भेदभाव व ऊंच-नीच, भाग्यवाद व रूढ़िवाद, कर्मफल व पुनर्जन्म के नियतिवादी मान्यताओं को इन वर्गों से समाप्त करने के लिए दलित-आन्दोलन के चिन्तकों ने ब्राह्मणवादी धार्मिक-पाखण्डों, कर्मकाण्डों, नियतिवाद- भाग्यवाद व रूढ़िवाद का विरोध किया है। वर्तमान में दलित-समाज जगरातों-कीर्तन, गुरुवाद, व्रत-उपवास, कावड़ आदि में लिप्त है। दलित बस्तियों व मोहल्लों में ब्राह्मणवाद के प्रतीक देवी-देवताओं की मूर्तियां स्थापित हो रही हैं, तो कहीं दलित-मुक्ति के प्रतीकों व प्रेरकों के नाम पर पूजास्थल स्थापित करके इनका ब्राह्मणीकरण किया जा रहा है। प्रसाद-चढ़ावा और भंडारे के स्वाद में एक नया पुजारी वर्ग पनप रहा है, जो अंधश्रद्धा को दलितों में जगह दे रहा है और ब्राह्मणी परंपराओं